

भूमिका

आयुर्वेद का चरम लक्ष्य स्वस्थजनों के स्वास्थ्य की रक्षा एवं रुग्णप्राणियों के रोगों का प्रतिकार करते हुए आयु या जीवन की वृद्धि एवं रक्षा करना ही है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये तीन महत्व के साधन या सूत्र हैं। (१) हेतुज्ञान (२) लिंगज्ञान (३) औषध ज्ञान। इन्हीं तीनों सूत्रों के आधार पर अनादिकाल से स्वास्थ्य-रक्षा एवं चिकित्सा होती चली आयी है। प्रारम्भ में ये सूत्र विभिन्न व्यक्तियों की स्मृतिमात्र में विकीर्ण थे किन्तु सुविधा की दृष्टि से इनका संकलन करने के लिए विभिन्न आयुर्वेद-मंहिताओं का निर्माण हुआ। युगानुरूपविद्याधियों की वृद्धि एवं प्रवृत्ति के अनुसार तथा प्रत्येक अंग के विशेष अध्ययन के लिए आयुर्वेद को आठ अङ्गों में विभक्त कर विभिन्न अङ्गों पर अलग २ संहिताओं की भी रचना हुई। उसी प्रकार कालान्तर में प्रत्यङ्ग-विभाग करने की भी आवश्यकता प्रतीत हुई और निदान, चिकित्सा, द्रव्य-गुण, औषधज्यकल्पना, रसशास्त्र आदि विषयों पर विभिन्न ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। आज तो एक-एक रोगों पर भी पृथक्-पृथक् ग्रन्थों की रचना हो रही है एवं आयुर्वेद के विभिन्न अंग या प्रत्यंग ही नहीं एक एक रोग के विशेषज्ञ उत्पन्न हो रहे हैं। इतना ही नहीं आयुर्वेद के एक-एक सूत्र या सूत्रावयव के आधार पर विभिन्न देशों में विकसित अनेक चिकित्सा पद्धतियाँ का भी आविर्भाव हुआ और उनमें भी पूर्वोक्त रीति से ही अंग-प्रत्यङ्ग विभाग हुए। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि विश्व के किसी भी देश में ध्यास कोई भी चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद का ही झङ्ग है भले वह मायामुख्य जीवात्मा के समान परमात्मरूप मूलतत्त्व से पृथक् अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर अपने मूल की उपेक्षा करे। किन्तु किसी भी पद्धति की सत्ता पूर्वोक्त तीन ग्रधान सूत्र (हेतुलिङ्गोषधज्ञान) के बिना वैसे ही नहीं हो सकती जैसे त्रिगुण (सत्त्व, रज और तम) के बिना संसार के किसी भी पदार्थ की।

पूर्वोक्त तीनों सूत्रों में लिङ्गज्ञान सर्वाधिक महत्व का है क्योंकि रोग के स्वरूप ज्ञान के पश्चात् ही हेतु और औषध की समीक्षा तथा व्यवस्था होती है और तभी चिकित्सा भी सफल होती है। इसीलिए शास्त्रों में कहा है—‘रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्’ अतएव रोगज्ञान के साधनों की पर्यालोचना पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता का अनुभव वैद्य-समाज ने किया तथा तत्कालीन सद्वेद्यों के आग्रह से महामति आचार्य माधवकर ने ‘रोगविनिश्चिय’ नामक ग्रन्थ का निर्माण किया जो ‘माधवनिदान’ नाम से प्रसिद्ध हुआ।

‘माधवनिदान’ में आयुर्वेद के प्रायः सभी अङ्गों में वर्णित रोगों के हेतु, लक्षण, सम्प्रासि आदि का सुख्यतया चरक, सुश्रुत एवं वारभट के वचनों में संग्रह किया गया है। इस प्रकार समस्त रोगों के—जिनका उस समय तक आविष्कार तथा व्यवस्थाकरण हो लुका था—लक्षणादि इस एक ग्रन्थ में ही प्राप्त हो जाते हैं। चरक आदि में वर्णित रोगों का क्रम भी इस ग्रन्थ में परिचर्तित कर दिया गया है, तथा मसूरिका आदि कतिपय रोगों पर स्वतन्त्र अध्याय देकर उनका अधिक विवेचन किया गया है। इन विशेषताओं के कारण यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और उसके लिए ‘निदाने माधवः श्रेष्ठः’ कहा जाने

लगा। इतना ही नहीं, वाद के विद्वानों में प्रधानतः वृन्द, चक्रपाणि, वंगसेन, गोविन्ददास आदि ने निज निज ग्रन्थों में माधवोक्त क्रम से ही रोगों की चिकित्सा का वर्णन किया है।

मूल ग्रन्थकार का परिचय—

आचार्य माधव कर श्री इन्दु कर के पुत्र थे, इसका उल्लेख तो उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं किया है—‘श्रीमाधवेन्दुकरात्मजेन’। ‘कर’ उपाधि से यह वंगप्रदेशीय प्रतीत होते हैं। वंगप्रदेशीय वैद्यों के ग्रन्थों पर इनके ग्रन्थ के क्रम का अधिक प्रभाव तथा वंगप्रदेशीयों द्वारा आरम्भ में इस ग्रन्थ की टीका होने से एवं इस ग्रन्थ का वहाँ सर्वप्रथम प्रचार होते से भी इनका वंगप्रदेशीय होना प्रमाणित होता है। कीथ (Keith) इनका समय ईशवीय ८ वर्षीया ९ वर्षीया शताब्दी मानते हैं तो जॉली (Jolly) सातवर्षी और कविराज गणनाथसेन जी छठी शताब्दी। हेस (Haas) ने तो बिना किसी विशिष्ट प्रमाण के ही इन्हें सुश्रृत से भी पूर्व का माना है, जो प्रामादिक ही है। इनके काल-निर्णय के सम्बन्ध में विवेचन करने के लिए निम्नांकित तथ्यों पर ध्यान देना उपयोगी होगा।

(१) माधवनिदान में सुख्यतः चरक, सुश्रृत और वाग्भट के वचनों का प्रायः अविकल संग्रह किया गया है। वाग्भट अपने ग्रन्थ में चरक और सुश्रृत का स्पष्ट उल्लेख करते हैं ‘यदि चरकमधीते तदभ्युव सुश्रृतादि-प्रणिगदितगदाना नाममात्रेऽपि वाशा।’ अतः यह चरक और सुश्रृत के परवर्ती हैं तथा वाग्भटोक्त क्षोकों का भी संग्रह करने से माधवकर इनसे भी परवर्ती प्रमाणित होते हैं। वाग्भट का काल तीसरी शताब्दी का अन्त या चौथी का आरम्भ है (विशेष विवेचन मेरे द्वारा सम्पादित और चौखंडी संस्कृत सीरीज काशी से प्रकाशित ‘अष्टाङ्गहृदय’ की प्रस्तावना में देखें)।

(२) सुदृग एवं यातायात के साधनों के अभाव से उस समय की किसी भी रचना का प्रसार देश के एक कोने से दूसरे कोने तक होने के लिए सौ, दो सौ वर्षों का काल मानना पड़ेगा। इस प्रकार सिन्धुदेश के वाग्भट का प्रचार वंग देश में पाँचवर्षी शताब्दी में ही सम्भावित है। अतः माधवकाल भी पाँचवर्षी शताब्दी के पूर्व का नहीं हो सकता ?

(३) आठवर्षी या नौवर्षी शताब्दी में ‘वृन्द’ ने माधवोक्त क्रम से अध्याय क्रम रखकर ‘सिद्धयोग या वृन्दमाधव’ ग्रन्थ की रचना की। कुछ लोग ‘रोगविनिश्चय’ कार माधव का असली नाम वृन्द ही मानते हैं तथा माधवनिदान एवं वृन्दमाधव दोनों को एक ही व्यक्ति की रचना तथा उसका काल ८-९ वर्षी शताब्दी मानते हैं, किन्तु ११ वर्षी शताब्दी में चक्रपाणि और वंगसेन ने अपने ग्रन्थों में वृन्द और माधव दोनों का उल्लेख किया है, अतः दोनों एक नहीं प्रतीत होते।

(४) आठवर्षी शताब्दी में ‘हारूँ-अल-रशीद’ ने कतिपय आयुर्वेद-ग्रन्थों का अरबी अनुवाद कराया था, उनमें निदान भी था। उच्चारण और लिपि के दोष से चरक का सरक, सुश्रृत का सशरद तथा निदान का बदान या यादान हो गया था। वाग्भट की तरह वंगप्रदेश से समस्त भारत में माधवनिदान के प्रचार में, विशेषतः इतनी ख्याति प्राप्त करने में कि एक विदेशी उसका अनुवाद करने को आकर्षित हो, एक-दो सौ वर्ष लगे ही होंगे।

(५) ग्रन्थ के मंगलाचरण से माधव स्पष्ट रूप से शैव प्रतीत होते हैं । वौद्धधर्म के हास के बाद शैव सम्प्रदाय ही विशेष रूप से व्यापक हुआ था । वैष्णव सम्प्रदाय का व्यापक प्रसार तो बाद में हुआ ।

अतः वाऽभट के २०० वर्ष बाद तथा वृग्द और हार्हनुल रसीद के २०० वर्ष पूर्व का काल अर्थात् छठी शताब्दी माधव का युक्तसगत काल प्रतीत होता है ।

आचार्य माधव के कतिपय अन्य ग्रन्थों का उल्लेख कुछ विद्वानों ने किया है, पर उनका माधवकर लिखिन होने का सुस्पष्ट कोई प्रमाण नहीं है । केवल एक 'रत्नमाला' नामक ग्रन्थ के सम्बन्ध में श्री गोपीमोहन कविराज ने अपने मुक्तावली ग्रन्थ में 'पूर्व लोकहिताय माधवकराभिख्या भिषक् केवलम् माला रत्नमयी चकार', ऐसा उल्लेख किया है ।

इस ग्रन्थ की अलेक टीकाओं में मधुकोष और आत्मदर्शण नामक द्वो ग्राचीन टीकाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं । इनके अतिरिक्त सत्त्वत और हिन्दी की कई टीकाएँ भी हैं । किन्तु अरमरी-निदानान्त विजयरचित कृत तथा उनके स्वर्गवासी होने पर शेष भाग पर श्रीविजयरचित महोदय के ही शिष्य श्रीकण्ठदत्तकृत 'मधुकोष' टीका बड़े महत्व की है और आज तक विद्वन्मण्डली में इसका परम आदर है । तत्कालीन परिस्थिति के अल्लुसार केवल ग्राच्य इष्टिकोण से इस टीका में माधव-संगृहीत मूल श्लोकों का स्पष्टीकरण उत्तम रीति से करने के साथ ही मूलग्रन्थ में अनुहितिलित किन्तु प्रसङ्गतः आवश्यक अन्य आर्थवचनों का भी समावेश कर सोने में सुगन्ध डाल दिया गया है । इसके लिए टीका के आदि में ही सुस्पष्ट शब्दों में कहा है :—

उपनुक्तमिहानुक्तं निदानं माधवेन यत् ।
ग्रन्थव्याख्याप्रसङ्गेन मया तदपि लिख्यते ॥

मधुकोष में उहितिलित मंहिताएँ तो दूर रहीं, उनकी टीकाओं में भी जिनका उल्लेख मधुकोष में है—बहुतों का हमें आज दर्शन भी दुर्लभ है ।

'मधुकोष' टीका के रचयिता श्रीविजयरचित और श्रीकण्ठदत्त कृत और कोई अन्य टीका या मूलग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । 'मधुकोष' में भी इन्होंने अपना अधिक परिचय और काल नहीं दिया है किन्तु नाम से ये दोनों सुस्पष्ट रूप से वंगीय हैं । इनकी टीका से ही इनके प्रखर पाण्डित्य का परिचय प्राप्त होता है । ये दोनों ही आयुर्वेद के अतिरिक्त व्याकरण, साहित्य, मीमांसा और न्यायशास्त्र में भी पढ़ थे । इनके समय के सम्बन्ध में कुछ विचारकों ने १२ वीं शताब्दी और कुछ ने (जैसे कीथ ने) इन्हें १४ वीं या १५ वीं शताब्दी का माना है । मधुकोष में चक्रपाणिदत्त आदि ११ वीं शताब्दी के टीकाकारों के मत उद्धृत होने वे ये उनसे ज्वर्चीन तो हैं ही किन्तु बहुत बाद के भी नहीं प्रतीत होने, वयोंकि मधुकोष की टीका में निर्दिष्ट ग्रन्थों और टीकाओं का (जो उनके काल में अवश्य दी उपलब्ध थीं) अब दर्शन भी दुर्लभ हैं । १३ वीं शताब्दी के द्वितीय चरण में ही बंगाल पर इक्तुतमित आदि मुसलिम शासकों के कारण हिन्दू धर्म और संस्कृति के ऊपर प्रहार आरम्भ हुए और कई सौ वर्षों तक शान्ति नहीं स्थापित हो पायी । इसी बीच पूर्वोक्त ग्रन्थ लुप्त हो गए होंगे । अतः विजयरचित और श्रीकण्ठदत्त का काल १२ वीं शताब्दी ही उचित प्रतीत होता है ।

आज के युग में जब कि हम स्वतन्त्र हैं लेकिन दुर्भाग्य से हमारी मानसिक दासता समाप्त नहीं हुई है। सदियों की गुलामी और पाश्चात्य भौतिकवाद का चकाचौध में अन्त जनों के मार्ग-प्रदर्शनार्थ तथा आयुर्वेद को व्यापक बनाने, आयुर्वेद की विशेषताओं को प्रकाशित करने एवं विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियों में एकता स्थापित करने के लिये आयुर्वेदीय सूत्रों का आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में विशद एवं तुलनात्मक विवेचन आवश्यक है। गुरुवर आयुर्वेदाचार्य डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर जी ने सुश्रुतसंहिता की पूर्वोक्त दृष्टिकोण से ही रहस्यदीपिका नाम की टीका लिखकर एक नवीन युग और नयी प्रणाली की नींव ढाल दी है। उनका यह क्रम अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। तथा उन्हीं की प्रणाली पर आयुर्वेद ग्रन्थों की नवीन टीकाएँ प्रारम्भ हो गयी हैं।

भगवान् विश्वनाथ की अनुकूला से सद्वैद्यवृन्दवंदितपद गुरुवर श्रीसत्यनारायण शास्त्री एवं श्रद्धेय डा० मुकुन्दस्वरूपजी वर्मा प्रभृति उन्नेट विद्वज्जनों से आयुर्वेद और पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति की शिक्षा प्राप्त कर, उन्होंने गुरुजनों की छत्रचत्क्राया में काशी विश्वविद्यालय में सर द्वन्द्रलाल आतुरालय के आयुर्वेद विभाग में चिकित्सा करने एवं आयुर्वेद विद्यालय में निदान व चिकित्सा विषयों का अध्यापन करने का सौभाग्य गत १६ वर्षों से मुझे भी प्राप्त है। गुरुजनों के आदेश, मित्रों के निर्देश एवं विद्यार्थियों के अनुरोध पर इस टीका को लिखने का बार-बार विचार हुआ, किन्तु आतुरालय एवं विद्यालय के कार्य के अतिरिक्त स्वतन्त्र व्यवसाय तथा पारिवारिक क्षंकटों से अति व्यस्त होने के कारण सदा असमर्थ रहा। इस सम्बन्ध में चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस के अध्यक्ष श्रीयुत बाबू जयकृष्णदास जी गुप्त का अनुरोध सर्वोपरि था। वस्तुतः उनका साहस एवं धैर्य प्रशंसनीय है। ये महोदय शताधिक बार मेरे पास आकर मुझे प्रोत्साहित कर हर प्रकार की सुविधा देकर आवश्यकता होने पर शीघ्रलिपिक को नियुक्त करने तक का आशासन देकर लिखने या लिखाने का अनुरोध करते रहे पर यहाँ तो अवकाश का समय ही नहीं निश्चित था; न जाने कब कहाँ किस रोगी के यहाँ जाना पड़े आदि। अन्ततोगत्वा यह निर्णीत हुआ कि किसी योग्य व्यक्ति को निर्देश कर दिया जाय और वह लिखकर मुझे संशोधनार्थ दें। दैवात मेरे प्रिय और योग्यतम शिष्य श्री सुदर्शन शास्त्री ए. एम. एस. ने इस कार्य को करना स्वीकार कर लिया और भगवत्-कृपा से उसे पूरा भी किया। श्री सुदर्शन शास्त्री ने मेरे निदिष्ट सूत्रों का विस्तृत व्याख्यान अन्य अनेक विद्वानों से भी परामर्श कर बढ़ी ही योग्यता से किया है। मुझे संशोधन कार्य में आशातीत कम प्रयास करना पड़ा है। इसी बीच आपकी नियुक्ति पहले कान्यकुञ्ज आयुर्वेद विद्यालय, लखनऊ और बाद में ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज, हरद्वार में प्राध्यापक पद पर हो जाने से कुछ बाधा अवश्य आयी फिर भी कार्य चलता रहा और पूरा भी हुआ। यथा सम्भव मैंने उन्हीं के लेखों में घटा-बढ़ाकर संशोधन करने का प्रयास किया है, किन्तु कतिपय स्थलों पर मुझे स्वतन्त्र विमर्श तथा टिप्पणी भी देनी पड़ी है। यदि इतनी दूरी का व्यवधान न होता तो सम्भवतः उसकी भी आवश्यकता न होती।

पहिले तो विचार था कि मूलपाठ के बाद भाषार्थ फिर मधुकोष और उसका भाषार्थ और अन्त में प्राच्य और पाश्चात्य विवरण का तुलनात्मक विवेचन और विशिष्ट विमर्श किया जाय, किन्तु ग्रन्थ का कलेवर बढ़ जाने एवं पिष्टपेषण दोष की आशंका से मधुकोष

का अविकल अनुबाद न देकर विमर्श में ही उसके महत्त्वपूर्ण एवं क्षिष्ट अंशों को सम्मिलित कर लिया गया है। अतः विमर्श में यथासम्भव मधुकोष का सारा सार तो आ ही गया है, प्रसंगतः अन्य भी अनेक विशेषताओं को प्राच्य दृष्टि से सम्मिलित कर उनका आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान से तुलनात्मक विवेचन किया गया है। आज की आवश्यकतानुसार प्राचीन और अर्वाचीन अथवा प्राच्य और पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धतियों के बीच की कृत्रिम खाई को पाठकर इन दोनों ही पद्धतियों में एकरूपता (Synthesis) स्थापित कराना ही हमारा उद्देश्य रहा है। प्रस्तुत टीका से प्राचीन वैद्यों को अनुभव होगा कि नवीन विचार प्राचीन सूत्रों की विशद व्याख्यामात्र है एवं सहृदय डाक्टर बन्धु भी अनुभव करेंगे कि उनके सभी विचार सूत्ररूप में पूर्णतया प्राचीन शास्त्रों में वर्णित हैं। रोग विज्ञान में हेतु (Causes), लक्षण (Signs & symptoms), सम्प्राप्ति (Pathogenesis), उपशय (Therapeutic test) एवं साध्यासाध्यत्व (Prognosis) के विवेचन का दोनों ही पद्धति में समान महत्त्व है। उनके साधनों एवं रूपों में देश-कालानुसार अन्तर हो सकता है। किन्तु विभिन्न देश और काल के अनुसार वेश, भूषा, भाषा और आचार में अन्तर होते हुये भी क्या विश्वमात्र के मनुष्य एक नहीं? क्या द्रव्यान्तर संयोगादि रूप संस्कार के विना हरीतकी या अन्य द्रव्य का उपयोग वैद्य, हकीम या डाक्टर द्वारा करने पर गुण या परिणाम में कोई अन्तर आ जायेगा? नहीं। अतएव आचार्य वाग्मट ने कहा है कि—

अभिधातृवशात् किंवा द्रव्यशक्तिविशिष्यते ।
अतो मत्सरमुत्सुज्य माध्यस्थमवलम्बताम् ॥

मुझे विश्वास है कि शान्त और स्थिर चित्त से एवं सत्यान्वेषण की भावना से प्राच्य और पाश्चात्य दोनों पद्धतियों का मनन करने पर दोनों में एकरूपता ही प्रमाणित होगी। हमारा प्रयास इसी लक्ष्य को लेकर रहा है। इसमें हमें कहाँ तक सफलता मिली है, इसका विवेचन तो विज्ञ पाठक ही करेंगे।

इस टीका के लिखने में अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों की सहायता ली गयी है, अतः मैं उनके माननीय रचयितागण का आभारी हूँ। तथा परम श्रद्धेय गुरुवर्य राष्ट्रवैद्य श्री संघनारायणजी शास्त्री, गुरुवर डा० घाणेकरजी, श्रद्धेय डा० सुकुन्द्र स्वरूप वर्माजी एवं श्री पं० राजेश्वरदत्तजी शास्त्री, बन्धुवर श्री पं० दामोदर शर्मा गौड़, श्री पं० रमानाथजी द्विवेदी, श्री डा० शिवनाथजी खन्ना एवं श्री पं० शिवदत्तजी शुक्र आदि विद्वानों से भी समय-समय पर सत्परामर्श प्राप्त होते रहे हैं अतः उनका भी आभार मानता हूँ।

इस ग्रन्थ के निर्माण की कल्पना से लेकर प्रकाशन पर्यन्त मेरे मित्र श्री पं० गंगासहाय जी पाण्डे य से प्रतिपद सहायता प्राप्त होती रही है, अतः उनके इस सौजन्य के लिये धन्यवाद देना मात्र पर्याप्त न होगा। श्री सुदर्शन शास्त्री ने तो जिस लगन और परिश्रम से इस कार्य को पूरा करने का सुकृत किया है, उसके सुकल स्वरूप आपकी उत्तरोत्तर उच्छित और सफलता के लिये मेरा हार्दिक आशीर्वाद है। भगवान् ऐसे सुशील, नम्र, उत्साही और परिश्रमी नवयुवक को यश और सफलता देंगे ही क्योंकि—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं, गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते । ८
गुणप्रकर्षादनुरज्यते जनो, जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥

श्री बाबू जयकृष्णदासजी गुप्त को इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये मैं क्या वे सभी धन्यवाद देंगे जो इस पुस्तक से लाभान्वित होंगे। वस्तुतः यह ग्रन्थ उन्हीं के धैर्यपूर्वक सतत प्रोत्साहन से प्रकाशित हुआ है। हाँ, सम्पादन और प्रकाशन-कार्य में योग्यता एवं कुशलतापूर्वक पूर्ण सहायता के लिये श्री पं० ब्रह्मशंकरजी मिश्र एवं श्री पं० रामचन्द्र ज्ञा का उपकार न मानना कृतज्ञता होगी।

माधव की कृति की यह व्याख्या माधव की ही कृपा से यथाद्विदि सम्पादित कर माधव को ही समर्पित करता हूँ। इस कृति से यदि चिकित्सक समाज एवं छात्रों का लेशमात्र भी उपकार होगा तो हम अपने को कृतकृत्य समझेगे।

अन्त में विज्ञ पाठकों से अनुरोध है कि मेरी अख्याता और प्रमाद से जो त्रुटियाँ रह गयी हों, उनका उचित समाधान कर त्रुटियों पर सेरा ध्यान आकृष्ट कर, मुझे अनुगृहीत करेंगे; जिससे कि भविष्य में उनका सम्मार्जन हो जाय।

द्वितीय संस्करण

‘प्रथम संस्करण’ जिन परिस्थितियों में प्रकाशित हुआ था उनके कारण उसमें कठिपय त्रुटियों एवं कुछ न्यूनाधिक्य का रह जाना असम्भव नहीं था। फिर भी विद्वान् वैद्यों, छात्रों एवं जिज्ञासु पाठकों ने जिस प्रकार उसे अपनाया है उससे हमें अत्यन्त प्रोत्साहन मिला है। भारत के प्रत्येक प्रदेश के आयुर्वेद विद्यालयों के अतिरिक्त अनेक मेडिकल कालेजों के छात्रों एवं वैद्यों और डाक्टरों ने भी इसकी माँग की है।

स्व० गुह्यवर श्री यादवजी महाराज तथा च० च० श्री पं० रामेश्वरजी मिश्र कानपुर, श्री विश्वनाथजी द्विवेदी जामनगर, कविराज श्री जगदीशचन्द्र भट्टाचार्य गौहाटी प्रभृति विद्वानों ने अनेक उपयोगी सुझाव दिये हैं एतदर्थ में उनका आभारी हूँ। यथासम्भव इन सुझावों का उपयोग कर इस संस्करण में पर्याप्त सुधार किया गया है, जिससे ग्रंथ के कलेवर में कुछ वृद्धि भी हो गयी है। अनेक विद्वानों एवं मित्रों के परामर्श के अनुसार निकट भविष्य में ही इसका अंग्रेजी संस्करण भी निकालने का प्रयास किया जा रहा है।

आशा है कि विद्वज्ज्ञानों का समुचित परामर्श पूर्ववत् प्राप्त होता रहा तो अगला संस्करण सर्वतोभावेन पूर्ण और त्रुटिहित होगा।

तृतीय संस्करण

प्रस्तुत संस्करण में पूर्व संस्करण का ही परिष्कार इस प्रकार किया गया है कि सामान्य दृष्टि में कुछ भी परिवर्तन नहीं प्रतीत होता है। किन्तु सूचम दृष्टि से देखने से ज्ञात होगा कि स्थल-स्थल पर परिष्कार के साथ शास्त्र के पुनर्मनन, शोध एवं तद्विद्य संभाषाओं से प्रसूत नवीन विचारों के संमिश्रण से यह संस्करण पूर्णतया नवीन हो गया है। विद्वान् वैद्यों का पूर्ण सहयोग एवं सत्यपरामर्श पूर्ववत् प्राप्त होता रहेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

श्री विजयादृशमी }
संवत् २०२३ वै० }

विदुषां विधेयः
वैद्य यदुनन्दन उपाध्याय